प्रश्न नं0 11– परिवार से आप क्या समझते हैं ? इसकी विशेषताओं और महत्व का वर्णन कीजिए।

उत्तर – Family शब्द लैटिन भाषा के Famulus से बना है, जिसका अर्थ है–**सेवक।** यह उन व्यक्तियों का समूह है जो प्रेम भाव से एक दूसरे के साथ रहते हैं, जो एक ऐसे समूह के लिये प्रयुक्त हुआ है जिसमें माता–पिता, बच्चे, नौकर तथा दास हों। Cooley के अनुसार परिवार एक मात्र ऐसा प्राथमिक समूह है जहॉ व्यक्ति के सामाजिक जीवन तथा आदर्शो का निर्माण होता है। Robert Bierstedt ने लिखा है परिवार सदैव हमारे साथ रहता है और तथ्यतः हम सदैव इसके साथ रहते है और इसके संगठन की एक इकाई हैं। इस प्रकार परिवार न केवल मानव जीवन के प्रभाव को जारी रखने वाला अखण्ड स्त्रोत है प्रत्युत मानवोचित गुणों की पाठशाला भी है। इसके अतिरिक्त यह परिवार ही है जो समाज में जिसके हम एक अंग हैं, हमारा मूल परिचय देता है तथा हमारा अपना नाम भी जो इस परिचय का प्रतीक है।

Definitions of Family –विभिन्न विद्वानों ने परिवार को इस प्रकार परिभाषित किया है–

According To MacIver & page – परिवार पर्याप्त निश्चित यौन सम्बन्ध द्वारा परिभाषित एक ऐसा समूह है बच्चों के जन्म एंव लालन–पालन की व्यवस्था करता है।

According To Ogburn & Nimkoff – Family is more or less a durable association of husband and wife with or without children.

- A Handbook of Sociology

परिवार लगभग एक स्थायी समिति है जो पति–पत्नी से निर्मित होती है, चाहे उनके सन्तान हों अथवा न हों।

According To Kingsley Davis – Family is a group of persons whose relations to one-another are based upon consanguinity and who are there fore in to one another.

परिवार ऐसे व्यक्तियों का समूह है जिनके पारस्परिक सम्बन्ध सगोत्रता पर आधारित होते हैं और जो इस प्रकार एक दूसरे से रक्त सम्बन्धी होते हैं।

According To M.E. Jones- परिवार लिंग की सत्यता पर आधारित एक सामाजिक संस्था है जिसका कार्य सन्तानोत्पत्ति तथा उनका पालन–पोषण है।

According To Lusy Mayer :– परिवार एक गार्हस्थ समूह है जिसमें माता–पिता और सन्तान साथ साथ रहते हैं। इसके मूल रूप में दम्पत्ति और उसकी सन्तान रहती है।

उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर यह कहा जा सकता है कि परिवार दो या अधिक व्यक्तियॉ का एक समूह है जो परस्पर रक्त, विवाह अथवा गोद द्वारा सम्बन्धित होते हैं तथा अपनी–अपनी सामाजिक भूमिका का निर्वाह करते हुए परस्पर अंतर्क्रिया एवं विचारों का आदान–प्रदान करते हैं।

परिवार की प्रमुख विशेषताएँ - परिवार अपनी विशेषताओं के कारण दूसरे समूहों की अपेक्षा कहीं अधिक प्रभावशाली और महत्वपूर्ण है। इसकी प्रमुख विशेषताओं का उल्लेख **मैकाइवर** और **पेज** के अनुसार निम्न प्रकार से किया जा सकता है :–

1. **सर्वव्यापकता** :– सभी सामाजिक संस्थाओं तथा समितियों में परिवार सबसे अधिक सर्वव्यापी है। इसका कारण यह है कि सामाजिक विकास के सभी स्तरों में परिवार किसी न किसी रूप में अवश्य पाया जाता है। भविष्य में भी परिवार के संगठन को समाप्त नहीं किया जा सकता है और न ही इसके

महत्व को भुलाया जा सकता है, भले ही इसके रूप अथवा कार्यो में कुछ परिवर्तन हो जायें। परिवार की सार्वभौमिकता के कुछ विशेष कारण हैं। सर्वप्रथम परिवार की सर्वव्यापकता का कारण इसके द्वारा मनुष्य की मौलिक आवश्यकताओं को पूरा करना है। यौन सम्बन्ध सन्तानोत्पादन तथा शारीरिक रक्षा कुछ ऐसी महत्वपूर्ण आवश्यकताएँ हैं जिनको आदर्श रूप से परिवार में ही पूरा किया जा सकता है। दूसरी ओर, परिवार को सांस्कृतिक, मनोरंजन सम्बन्धी, धार्मिक तथा सामाजिक कार्य इतने महत्वपूर्ण हैं कि परिवार एक सर्वव्यापी संस्था का रूप ले लेता है।

2. **भावनात्मक आधार** :– परिवार के सभी सदस्य भावनात्मक आधार पर एक दूसरे से बँधे रहते हैं। पति–पत्नी का सम्बन्ध, माँ का स्नेह पालन–पोषण की व्यवस्था और पिता द्वारा दी गयी सुरक्षा परिवार की कुछ ऐसी विशेषताएँ हैं। जिनके कारण परिवार के सभी सदस्यों में परस्पर स्नेह और सहयोग की भावना उमड़ती रहती है। इसी के फलस्वरूप परिवार शान्ति तथा सदभावना का केन्द्र बन जाता है।

3. **रचनात्मक प्रभाव** :– परिवार के सभी सदस्यों का एक दूसरे पर रचनात्मक प्रभाव होता है। रचनात्मक प्रभाव का तात्पर्य है कि परिवार अपने सदस्यों से उन्हीं व्यवहारों की अपेक्षा करता है जो सामाजिक रूप से सहयोगपूर्ण होते हैं। बच्चे पर माता–पिता के व्यवहारों का तो स्थायी प्रभाव पडता ही है लेकिन साथ ही वे स्वंय भी बच्चों के कार्यो द्वारा प्रभावित होते हैं। व्यक्ति के निर्माण और विकास में परिवार के इस क्रियात्मक महत्व को भुलाया नहीं जा सकता। इसी के फलस्वरूप परिवार में एक बार जिन आदतों और व्यवहार के तरीकों का विकास हो जाता है, वे जीवन भर व्यक्तित्व का अभिन्न अंग बने रहते हैं।

4. **छोटा आकार** :– परिवार की एक विशेषता इसका छोटा आकार होता है। इसके सदस्य केवल वही व्यक्ति होते हैं जिन्होंने इसमें जन्म लिया हो, विवाह किया हो अथवा आपस में रक्त के द्वारा सम्बन्धित हों। यद्यपि भारत में परिवार का रूप कुछ समय पहले तक बहुत विस्तृत था लेकिन संयुक्त परिवारों का विघटन होने के साथ ही अब भारतीय परिवारों का आकार भी छोटा होता जा रहा है। नगरों में साधारणतया पति–पत्नी अैर उनके अविवाहित बच्चे ही परिवार के सदस्य होते हैं।

5. **सामाजिक ढाँचे में केन्द्रीय स्थिति** :– सम्पूर्ण सामाजिक संरचना में परिवार का स्थान केन्द्रीय है। जिस प्रकार सभी वस्तुओं व स्थानों में केन्द्रीय भाग का विशेष महत्व होता है, उसी प्रकार सम्पूर्ण समाज में परिवार का केन्द्रीय स्थान होने के कारण इसका भी सामाजिक संगठन में विशेष महत्व है। समाज का कोई भी सदस्य किसी कार्य को करते समय परिवार का सबसे अधिक ध्यान रखता है। वह जानता है कि एक केन्द्रीय इकाई के रूप में परिवार को संगठित रखना सबसे अधिक आवश्यक है। **अरस्तू** ने सर्वप्रथम समुदाय को परिवारों का संगठन कहकर सम्बोधित किया था, जिसका तात्पर्य यही था कि सभी समितियों में तो परिवार का महत्व सबसे अधिक होता ही है, साथ ही समुदाय के निर्माण में भी इसका एक सक्रिय योगदान होता है।

6. **सदस्यों का असीमित उत्तरदायित्व** :– परिवार वह स्थान है जहॉ व्यक्ति बडे से बडा त्याग करने में भी संकोच नही करता और अपने कर्तव्यों और प्रयत्नों से वह परिवार को ऐसी तपोभूमि बना देता है जहॉ न स्वार्थ है न बैर, वरन् परस्पर सहानुभूमि और सहायता में ही सभी सदस्य स्वर्गीय आनन्द की अनुभूति करते हैं। इसका कारण सदस्यों के कर्तव्य असीमित होते हैं लेकिन परिवार के अतिरिक्त दूसरी सभी समितियों में व्यक्ति के कर्तव्य सीमित होते

हैं लेकिन परिवार में व्यक्ति सभी प्रकार की जिम्मेदारियों को अपने उपर ले लेता है, चाहे ऐसा करने से उसका कोई स्वार्थ पूरा होता हो अथवा न होता हो। इसका कारण यह है कि दूसरी समितियों में व्यक्ति की केवल एक या दो आवश्यकताएँ ही पूरी होती हैं लेकिन परिवार व्यक्ति की सभी आवश्यकताओं को पूरा करने की जिम्मेदारी स्वंय उठाता है।

7. **सामाजिक नियन्त्रण** :– परिवारिक नियम समाज के नियन्त्रण स्थापित करने में सबसे अधिक महत्वपूर्ण सिद्व होते हैं। परिवार व्यक्ति पर पग–पग पर अनेक नियन्त्रण लगाता है। सामाजिक सम्बन्धों शिष्टाचार, रीति–रिवाजों, धर्म तथा शिक्षा आदि क्षेत्रों में परिवार के नियन्त्रण द्वारा ही व्यक्ति का जीवन नियमित रहता है। इस प्रकार परिवार सामाजिक नियन्त्रण का सबसे महत्वपूर्ण साधन है।
8. **परिवार का स्थायी व अस्थायी स्वभाव** :– परिवार एक समिति भी है और एक संस्था भी। यदि परिवार को पति–पत्नी एंव बच्चों का एक संगठन मान लिया जाय, तब परिवार एक समिति है और यदि परिवार को कुछ नियमों और कार्य विधियों की एक व्यवस्था माना जाय, तब एक संस्था है। समिति के रूप में परिवार अस्थायी (temporary) है क्योंकि यदि पति–पत्नी विवाह विच्छेद अथवा किसी अन्य कारण से अलग हो जायॅ तब एक विशेष उद्देश्य की पूर्ति रूक जाती है। और इस प्रकार परिवार के पुराने रूप में परिवर्तन हो जाता है। संस्था के रूप में परिवार स्थायी है क्योंकि पति–पत्नी अथवा बच्चों में से किसी एक या दो सदस्यों के न रहने पर भी परिवारिक नियमों अथवा परिवार की परम्परा कभी समाप्त नही होती। इस कारण परिवार का स्वभाव स्थायी एवं अस्थायी दोंनो ही प्रकार का है।

परिवार के कार्य अथवा महत्व :– मानव जीवन के सम्पूर्ण इतिहास में परिवार का महत्व सबसे अधिक है। परिवार ने अपने विकास की प्रारम्भिक अवस्था से ही व्यक्ति को वे सुविधाएँ दी हैं जो व्यक्ति को एक सामाजिक प्राणी बनाने के लिए अत्यधिक आवश्यक है। परिवार के विभिन्न कार्यो के परिणामस्वरूप ही व्यक्ति ने आज बर्बरता तथा असभ्यता के स्तर को लॉघकर सभ्यता के युग में प्रवेश किया है। परिवार की सदस्यता के कारण ही व्यक्ति को एक सामाजिक मानव कहा जाता है। एक ऐसा मानव जो संस्कृति का अधिकारी है और जिसने अनेक नियन्त्रणों में रहकर एक दूसरे के विकास में सहयोग दिया है। इस दृष्टिकोण से परिवार द्वारा किये जाने वाले प्रमुख कार्यो के आधार पर इसके समाजशास्त्रीय महत्व को भली–भॉति समझा जा सकता है।

1. **प्राणिशास्त्रीय कार्य (Biological Functions)** – परिवार पति–पत्नी तथा बच्चों का वह संगठन है जिसका प्रमुख कार्य परिवार की निरन्तरता को बनाये रखना और बच्चों के पालन–पोषण की व्यवस्था करना है। एक जैविकीय प्राणी (biological being) होने के कारण मनुष्यों में ऐसी अनेक जन्मजात प्रवृत्तियॉ हैं जिनकी नियमानुसार पूर्ति परिवार में ही सम्भव है। इस सम्बन्ध में परिवार के तीन कार्य का महत्व सबसे अधिक है (क) यौनिक इच्छा की सन्तृष्टि, (ख) सन्तानोत्पत्ति और (ग) शारीरिक सुरक्षा परिवार एक मात्र ऐसी संस्था है जो व्यक्ति को कुछ सीमाओं के अन्दर रहकर यौन जैसी मूलप्रवृत्ति को सन्तुष्ट करने के अवसर प्रदान करती है। सभी पुरूषों में पिता बनने की इच्छा और स्त्रियों में मॉ बनने की इच्छा प्रबल होती है जिसकी पूर्ति केवल परिवार में ही सम्भव है। अन्त में परिवार ही ऐसा स्थान है जहॉ इसके सदस्यों को सभी प्रकार की

शारीरिक तथा मानसिक सुरक्षा प्राप्त होती है। परिवार के इन कार्यो के फलस्वरूप ही व्यक्तित्व का सन्तुलित विकास सम्भव हो पाता है।

2. **समाजीकरण का कार्य** (Social Functions) :— परिवार का यह कार्य प्राणिशास्त्रीय कार्यो से भी अधिक महत्वपूर्ण है। यह केवल परिवार ही है जो व्यक्ति को एक प्राणिशास्त्रीय मानव से सामाजिक मानव के रूप में परिवर्तित करता है। परिवार व्यक्ति के जीवन को जन्म के पहले दिन से लेकर मृत्यु तक प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करता रहता है। वह बच्चे को परिवार के नियमों की ही शिक्षा नहीं देता बल्कि उसे अपने संस्कृति और लोकाचारों के अनुसार व्यवहार करना भी सिखाता है। इसी से बच्चा अपना एक सामाजिक व्यक्तित्व विकसित करता है। इसी प्रक्रिया को समाजीकरण की प्रक्रिया (process of socialization) कहा जाता है।

सर्वप्रथम बच्चा परिवार के वातावरण में ही दया, सहानुभूति सद्भावना, प्रेम और एकता जैसे गुणों को सीखता है। इस समय परिवार के सदस्य बच्चे से जिस प्रकार का व्यवहार करते हैं, वही व्यवहार धीर–धीरे बच्चे के व्यक्तित्व का अंग बन जाते हैं। यही कारण है कि परिवार को मनुष्य के जीवन की प्रारम्भिक पाठशाला कहा जाता है। बच्चे के युवावस्था में प्रवेश करने पर यद्यपि अनेक दूसरी समितियॉ तथा संघ उसके जीवन को प्रभावित करना प्रारम्भ कर देते हैं लेकिन परिवार का महत्व उस समय भी समाप्त नही होता क्योंकि विवाह और दूसरे सांस्कृतिक कार्य भी परिवार द्वारा ही किये जाते रहे हैं। इसके अतिरिक्त परिवार इसी स्तर पर व्यक्ति को एक सामाजिक प्रस्थिति प्रदान करता है। जिसके फलस्वरूप व्यक्ति अपने अधिकारों और कर्तव्यों को समझने लगता है और इस प्रकार समाज की अपेक्षाओं के अनुसार व्यवहार करना सीखता

है। मनुष्य के जीवन की तीसरी अवस्था तब आती है जब व्यक्ति सन्तान को जन्म देकर माता अथवा पिता का पद ग्रहण करता है। इस समय व्यक्ति को परिवारिक जीवन में नये–नये अनुभव होते हैं और वह अपनी स्थिति में कुछ परिवर्तन पाता है। इस प्रकार समाजीकरण की प्रक्रिया, जिसमें व्यक्ति समाज से अनुकूलन करना सीखता है, उसे परिवार द्वारा ही पूरी होती है।

3. **आर्थिक कार्य(Economic functions)** –परिवार सदैव से ही **आर्थिक क्रियाओं के केन्द्र** रहे हैं। असभ्यता के निम्न स्तर से ही पुरूष जंगलों में शिकार करने और भोजन की खोज में चले जाते थे, जबकि परिवार में स्त्रियॉ खेती, पशुपालन तथा दूसरे कार्य करती थीं। इसके बाद परिवार में ही छोटे–छोटे उद्योगों का जन्म हुआ और इस प्रकार परिवार आर्थिक क्रियाओं तथा उत्पादन के प्रमुख केन्द्र बन गये। परिवार में सभी वयस्क सदस्य किसी न किसी प्रकार धनोपार्जन करते हैं और इस प्रकार सभी छोटे–बडें सदस्यों की आवश्यकता को पूरा किया जाता है। इसके अतिरिक्त श्रम विभाजन के द्वारा भी परिवार अपनी क्रियाओं को इस प्रकार व्यवस्थित करते हैं जिससे सभी व्यक्तियों को अपनी कुशलता और योग्यता के अनुसार कार्य दिया जा सके। **पारिवारिक सम्पत्ति की व्यवस्था** करना भी परिवार का महत्वपूर्ण कार्य है। आय और व्यय के सन्तुलन के आरम्भिक नियम व्यक्ति परिवार में ही सीखता है।
4. **धार्मिक कार्य (Religious Functions)** – धार्मिक कार्यो को पूरा कने में तो परिवार का सदैव से एकाधिकार रहा है। परिवार के बाहर किसी धार्मिक कार्य को करने की कल्पना भी नही की जा सकती। उदाहरण के लिये, उत्सवों का आयोजन, संस्कारों की पूर्ति, प्रार्थना पूजा तथा पिण्डदान जैसे

कार्य केवल परिवार में ही किये जाते हैं। वैवाहिक कार्य और दूसरे धार्मिक संस्कारों की पूर्ति भी परिवार द्वारा ही सम्भव है। परिवार व्यक्ति के जीवन में धर्म का महत्व स्पष्ट करता है और इस प्रकार व्यक्ति अपने जीवन को अधिक से अधिक नैतिक तथा पवित्र बनाने का प्रयत्न करता है।

5. **सांस्कृतिक कार्य (Cultural Functions)** – परिवार के सांस्कृतिक कार्यो से तात्पर्य ऐसे कार्यो से है जो उस समाज के मूल्यों और परम्पराओं की शिक्षा के रूप में होते हैं। परिवार व्यक्ति को धर्म और धार्मिक क्रियाओं की शिक्षा देता है। यदि संस्कृति में धन का महत्व है तो परिवार भी अपनी शिक्षा के द्वारा व्यक्ति को प्रारम्भ से ही भौतिकवादी बना देता है। परिवार ही बच्चे को सर्वप्रथम अपनी संस्कृति, धर्म, शिष्टाचार, व्यवहार के तरीकों तथा प्रथाओं की शिक्षा देता है। ये सभी शिक्षाएँ व्यक्ति के भावी जीवन का अभिन्न अंग बन जाती हैं। वर्तमान जीवन में परिवार के कार्यो में जो परिवर्तन हुए हैं, उनका बहुत बडा कारण सांस्कृतिक विशेषताओं में होने वाला परिवर्तन ही है।

6. **मनोरंजन सम्बन्धी कार्य** (Recreational Functions) –एक समय था जब परिवार मनोरंजन के एकमात्र केन्द्र थे। संध्या को सभी कार्यो से निवृत्त होकर परिवार के सभी सदस्य एक साथ बैठते थे और कहानी व चुटकलों द्वारा परिवार का मनोरंजन होता था। भारतीय ग्रामों में तो परिवार मनोरंजन के क्षेत्र में आज भी सबसे अधिक महत्वपूर्ण संस्था है। परिवार का कार्य सभी का मनोरंजन करना और लोक कथाओं के माध्यम से संस्कृति का विकास करना होता है। नाच, गाना, खेल, कहानियॉ और पौराणिक गाथएँ कुछ विशेष साधन हैं जिनके द्वारा परिवार इस कार्य को पूरा करते हैं। इस सम्बन्ध में एक विशेष बात यह है कि परिवार द्वारा

प्रदान किये जाने वाले मनोरंजन का अन्तिम उदेश्य व्यक्ति के चरित्र का निर्माण करना होता है। इसी कारण पारिवारिक मनोरंजन को आज भी मनोरंजन का सबसे स्वस्थ स्वरूप समझा जाता है।

परिवार द्वारा किये जाने वाले इन महत्वपूर्ण कार्यो के आधार पर ही **गोल्डस्टीन** ने कहा थ कि **" परिवार वह स्थान है जिसमें भविष्य का जन्म होता है और ऐसा शिशुगृह है जिसमें एक जनतान्त्रिक सामाजिक व्यवस्था का निर्माण होता है। "** इस प्रकार परम्परा के द्वारा परिवार अतीत से सम्बद्व है लेकिन सामाजिक उत्तरदायित्वों के आधार पर इसका सम्बन्ध भविष्य से भी है।

प्र012– भारतीय समाज की संजातीय विविधताओं की विवेचना कीजिए ?

उत्तर– भारतीय समाज में संजातीयता के विभिन्न आधारों की सहायता से संजातीय विविधताओं की प्रकृति को सफलतापूर्वक समझा जा सकता है –

1. **बहुसंख्यक तथा अल्पसंख्यक का भेद** – भारतीय समाज में ऐतिहासिक रूप से चली आने वाली विविधताओं में संजातीय विविधता का एक विशेष रूप बहुसंख्यक तथा अल्पसंख्यक के भेद के रूप में स्पष्ट होता रहा है। किसी समाज का निर्माण जिन समुदायों से होता है, उनमें मामूली तौर पर जिन समुदायों की सदस्य–संख्या दूसरे समुदायों की तुलना में कम होती है, उन्हें अल्पसंख्यक कहा जाता है। संख्या के अतिरिक्त बहुसंख्यक और अल्प–संख्यक के विभेद का दूसरा प्रमुख आधार उनकी राजनीतिक और आर्थिक शक्ति है। उदाहरण के लिए, मुगल शासनकाल तथा ब्रिटिश शासन के अन्तर्गत हिन्दुओं की तुलना में मुसलमानों अथवा ईसाइयों की संख्या कम होने के बाद भी उनकी राजनीतिक और आर्थिक शक्ति अधिक थी, इस कारण उन्हें अल्पसंख्यक नहीं माना जाता था। तीसरा आधार धर्म, संस्कृति तथा प्रजाति का है। इसका अर्थ है कि यदि किसी समुदाय के साथ धर्म, संस्कृति या प्रजाति के आधार पर पक्षपातपूर्ण व्यवहार किया जाता है अथवा उसे कुछ अधिकारों से वंचित किया जाता है, तब ऐसे समुदाय को अल्पसंख्यक कहते हैं।

   उदाहरण के लिए, दक्षिण अफ्रीका में एक लम्बे समय तक नीग्रो प्रजाति के लोगों की संख्या गोरे लोगों से बहुत अधिक होने के बाद भी उन्हें इस कारण अल्पसंख्यक मान लिया गया कि गोरे लोगों की सरकार द्वारा उन्हें अधिकांश अधिकारों से वंचित रखा गया। भारत में यदि हम धर्म, भाषा या प्रजाति के आधार पर बहुसंख्यक और अल्पसंख्यक के विभेद को स्पष्ट करें तो विभिन्न क्षेत्रों की स्थिति एक–दूसरे से अलग है। उत्तर भारत

में धर्म और भाषा के आधार पर हिन्दू और हिन्दी भाषा बोलने वाले लोग बहुसंख्यक हैं, जबकि मुसलमान, ईसाई और सिक्ख अल्पसंख्यक हैं। धर्म और संस्कृति के आधार पर पंजाब में सिक्ख समुदाय बहुसंख्यक है, जबकि हिन्दु और मुस्लिम अल्पसंख्यक हैं। पूर्वोत्तर राज्यों में ईसाई समुदाय धर्म के आधार पर बहुसंख्यक है, तमिलनाडु तथा समीपवर्ती क्षेत्रों में भाषा के आधार पर तमिल और तेलगू भाषा–भाषी लोग बहुसंख्यक हैं, जबकि हिन्दी भाषी लोग अल्पसंख्यक हैं। इसका तात्पर्य है कि केवल धर्म, भाषा, संस्कृति या प्रजाति के आधार पर ही किसी समुदाय को बहुसंख्यक और दूसरे को अल्पसंख्यक नहीं कहा जा सकता है।

2. **जातिगत भिन्नताएँ**– संजातीय विविधता का दूसरा रूप भारत में जातियों के विभाजन तथा जातिगत संस्कृतियों की भिन्नता के रूप में देखा जा सकता है। अनेक दूसरे धर्मों में जहां एक विशेष धार्मिक वर्ग या संगठन के द्वारा अपने अनुयायियों के विभिन्न क्षेत्रों में व्यवहार के नियमों का निर्धारण किया जाता है, वहीं हिन्दू धर्म में ऐसी कोई सर्वोच्च सत्ता या संगठन नहीं है जो अपने अनुयायियों को कुछ विशेष नियमों के अनुसार व्यवहार करने को बाध्य कर सके। इस दशा में ब्राह्मण ग्रंन्थों, पुराणों तथा मनुस्मृति में जिस जाति संरचना के रूप को स्पष्ट किया गया, उसी व्यवस्था ने हिन्दू धर्म को मानने वाले लोगों के जीवन को व्यापक रूप से प्रभावित करना आरम्भ कर दिया। जाति व्यवस्था का मुख्य आधार एक ऐसा संस्तरण है जिसमें ब्राह्मणों की स्थिति सर्वोच्च, जबकि क्षत्रियों, वैश्यों और शूद्रों की स्थिति क्रमशः दूसरी, तीसरी और चौथी है। यह संस्तरण जन्म के सिद्धान्त पर आधारित है तथा इस व्यवस्था का सार तत्व अन्तर्विवाह का नियम है सम्पूर्ण जाति व्यवस्था पवित्रता और अपवित्रता के उन नियमों पर आधारित है जिनका उल्लेख समय–समय पर विभिन्न धर्मग्रन्थों और विशेषकर मनुस्मृति में किया गया। व्यावहारिक रूप से भारत 81 प्रतिशत से भी अधिक जनसंख्या वाला हिन्दू

समुदाय केवल ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र वर्ण में ही विभाजित नहीं है बल्कि पवित्रता और अपवित्रता के आधार पर एक–एक वर्ण भी सैकड़ों जातियों में विभाजित है। इन जातियों के बीच भी उच्चता और निम्नता का एक निश्चित संस्तरण लम्बे समय तक बना रहा।

भारत में जातिगत विभाजन संजातीय विविधता का मुख्य स्त्रोत है। इसका कारण यह है कि प्रत्येक जाति और उपजाति से सम्बन्धित लोगों का यह प्रयत्न रहता है कि अपने अलग–अलग संगठन बनाकर लोकतान्त्रिक व्यवस्था में दबाव समूह का कार्य कर सकें तथा दूसरे जाति समूहों के विरूद्ध अपने आपको अधिक से अधिक संगठित रखें। ग्रामीण क्षेत्रों में भी यदि कोई व्यक्ति अपनी जाति के नियमों को तोड़ता है तो उसकी जाति पंचायत द्वारा उसे दण्डित किया जाता है। इन सभी दशाओं के फलस्वरूप विभिन्न जाति समूहों के बीच दूरी बढ़ जाने से सामाजिक और राष्ट्रीय एकीकरण में बाधाएँ पैदा होने लगीं।

3. **क्षेत्रीय भिन्नताएँ–** भारत विभिन्न संस्कृतियों, भाषाओं और संजातीय विशेषताओं वाले बहुत–से क्षेत्रों में विभाजित है। सभी क्षेत्रों और प्रदेशों में रहने वाले लोग अपने इतिहास, संस्कृति और भाषा के आधार पर अपने आपको दूसरे क्षेत्रों से पृथक् समूह के रूप में देखते हैं। इसके फलस्वरूप यहाँ क्षेत्रवाद की एण्क ऐसी मनोवृत्ति विकसित हुई है जिसके अन्तर्गत एक क्षेत्र के निवासी अपने हितों को अधिक से अधिक पूरा करने के लिए सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक अलगावाद को प्रोत्साहन देने लगते हैं। 'बंगाल बंगालियों के लिए', 'मद्रास मद्रासियों का, अथवा 'पंजाब पंजाबियों का' जैसे नारे क्षेत्रीय विविधता को नहीं बल्कि क्षेत्रवाद को स्पष्ट करते हैं। व्यवहारिक रूप से हमारे देश में क्षेत्रीय विविधता यहाँ की ऐतिहासिक विशेषता रही है। समुद्र तटों के क्षेत्रों का खान–पान और वेश–भूषा देश के दूसरे क्षेत्रों से अलग है। पर्वतीय क्षेत्रों की संस्कृतियों अपनी अलग विशेषता लिये हुए है।

गंगा–यमुना के मैदान से सम्बन्धित क्षेत्र अपनी संस्कृति को दूसरे क्षेत्रों की संस्कृतियों से अधिक महत्वपूर्ण मानते हैं। राजस्थान को अपने शौर्य और बलिदान का गर्व है तो उत्तर प्रदेश को आर्यावर्त का केन्द्र माना जाता है। विभिन्न क्षेत्रों की जलवायु में भी बहुत बड़ा अन्तर है। यह क्षेत्रीय भिन्नताएँ भारतीय समाज की अनुपमता को स्पष्ट करती है लेकिन इन्हीं विविधताओं के फलस्वरूप अनेक समस्याओं को प्रोत्साहन मिलने लगा।

स्वतन्त्रता के बाद भारत में कुछ क्षेत्रों के निवासियों ने अपने आपको एक अलग संजातीय समुदाय मानकर अपने लिए अलग क्षेत्रीय शासन की मांग करना आरम्भ कर दी। यहाँ लोकतान्त्रिक व्यवस्था स्थापित होने के बाद विभिन्न क्षेत्रों के लोगों में यह भावना प्रबल होने लगी कि जब तक उनके क्षेत्र को दूसरे क्षेत्रों से पृथक् नहीं किया जाता, तब तक उन्हें विकास कार्यक्रमों का अधिक लाभ प्राप्त नहीं हो सकता। वास्तव में, क्षेत्रीय विविधता स्वयं में कोई समस्या नहीं है लेकिन जब क्षेत्रीय विविधताएँ 'संजातीयता की प्रवृत्ति' से जुड़ जाती हैं तो राष्ट्रीय पहचान के लिए वे चुनौती बन जाती हैं।

4. **जनसंख्या सम्बन्धी भिन्नताएँ** – जनसंख्या के विशेषताओं के दृष्टिकोण से भी भारत एक विविधतापूर्ण समाज है। सन् 2001 की जनगणना के अनुसार भारत की कुल जनसंख्या 102 करोड़ से भी अधिक थी जो मार्च 2004 तक बढ़कर लगभग 107 करोड़ हो चुकी है। यह सम्पूर्ण जनसंख्या देश के कुल 29 राज्यों और 6 केन्द्रशासित प्रदेशों में फैली हुई है। विभिन्न राज्यों की जनसंख्या में भारी विविधता देखने को मिलती है। एक ओर उत्तर प्रदेश में कुल जनसंख्या का 16.17 प्रतिशत हिस्सा रहता है तो दूसरी ओर सिक्किम, मिजोरम, अरूणाचल प्रदेश, गोवा नागालैण्ड, मेघालय तथा मणिपुर जैसे सात राज्यों में कुल जनसंख्या को केवल एक प्रतिशत भाग ही निवास करता है। विभिन्न राज्यों में जनसंख्या के घनत्व में भी बहुत अधिक भिन्नताएँ है। एक ओर दिल्ली में एक वर्ग किलोमीटर क्षेत्र में औसतन 9,294 लोग रहते है,

जबकि अरूणाचल प्रदेश में इतने क्षेत्र में रहने वाले लोंगो की संख्या केवल 13 है। यदि साक्षरता के दृष्टिकोण से देखा जाय तो केरल में 100 में से 90. 92 लोग साक्षर हैं, जबकि बिहार में जनसंख्या का केवल 47 प्रतिशत भाग ही साक्षर है। इस समय भी देश की 72 प्रतिशत से अधिक जनसंख्या ग्रामीण क्षेत्रों में निवास करती है जिसकी जीवन–पद्धति नगरीय जनसंख्या से काफी भिन्न है। जनसंख्या में 7 करोड़ से भी अधिक व्यक्ति अनुसूचित जनजातियों से सम्बन्धित हैं तथा अपने धर्म, भाषा, क्षेत्र और सांस्कृति क आधार पर उनकी एक अलग पहचान है। कुल जनसंख्या में अनुसूचित जातियों तथा अन्य पिछड़े वर्गो की जनसंख्या लगभग 46 प्रतिशत है। विभिन्न क्षेत्रों में स्त्रियों और पुरूषों के अनुपात में भी काफी विभिन्नता देखने को मिलती है। अनेक दूसरे देशों की तरह भारत में भी नगरीकरण की प्रक्रिया में तेजी से वृद्धि हो रही है। इसके फलस्वरूप देश में 35 से अधिक नगर ऐसे हैं जिनमें 10 लाख या उससे अधिक लोग निवास करते हैं। इन नगरों की समस्याएँ ग्रामीण जीवन और कस्बों से बिल्कुल भिन्न हैं। यह सभी जनसंख्यात्मक भिन्नताएँ किसी न किसी रूप में संजातीय विविधताओं में वृद्धि करती हैं।

5. **धार्मिक विविधता** – पूर्व विवेचन में विस्तार के साथ यह स्पष्ट किया जा चुका है कि भारतीय समाज विभिन्न धर्मों का एक संगम स्थल है। यहाँ हिन्दू, इस्लाम, ईसाई, सिक्ख, जैन तथा पारसी धर्म को मानने वाले लोग साथ–साथ रहते हैं। सभी को अपने धर्म के अनुसार आचरण करने की पूरी स्वतन्त्रता है। वास्तविकता यह है कि किसी समाज के सदस्यों को एकता के बन्धन में बाँधने में धर्म का महत्वपूर्ण योगदान होता है। सभी धर्मों की शिक्षाएँ कुछ नैतिक और मानवीय मुल्यों पर आधारित होती हैं तथा धार्मिक नियम ही लोगों को कुछ मर्यादाओं में रहकर व्यवहार करना सिखाते हैं। मनुष्य में श्रेष्ठ गुणों का संचाार करके उसे सभ्य बनाने का काम धर्म का ही है। इसके बाद भी यह ध्यान रखना आवश्यक है कि जब विभिन्न समुदाय धर्म के आधार पर

अपने आपको एक दूसरे से अलग रखने लगते हैं अथवा एक धर्म के लोग दूसरे धर्म के अनुयायियों पर अपनी विशेषताएँ लादने का प्रयत्न करते हैं तो इससे विभिन्न धार्मिक समुदायों के बीच टकराव की दशा पैदा होने लगती है। भारतीय समाज में समय–समय पर होने वाले साम्प्रदायिक संघर्ष इसी टकराव का परिणाम हैं। अनेक अध्ययनों से यह स्पष्ट हुआ है कि जिन समाजों में शिक्षा और साक्षरता की कमी होती है, वहाँ धार्मिक विविधता के फलस्वरूप लोग एक–दूसरे के प्रति असहिष्णु होने लगते हैं। इसका कारण धर्म से सम्बन्धित वे अन्धविश्वास और रूढ़ियाँ हैं जो लोंगो को तर्क और विवेक से दूर ले जाती हैं। इसी दशा में धार्मिक विविधता संजातीय भेदभाव की भावना पैदा करके प्रगति के रास्ते में बाधा बनने लगती है।

प्र0–13 भारत में धार्मिक विश्वासों की भिन्नता की विवेचना कीजिऐ?

उत्तर– विश्वास धर्म का सबसे महत्वपूर्ण अंग है। यह विश्वास उन विचारों के रूप में होते हैं जिनकी व्याख्या एक विशेष धर्म के गुरूओं तथा पुरोहितों द्वारा की जाती है। धार्मिक विश्वासों की प्रकृति जिस तरह की होती है, उसी के अनुसार लोग अपने सामान्य जीवन में व्यवहार करते हैं। जो व्यवहार धार्मिक विश्वासों से जुड़े होते हैं, उन्ही को संस्कार तथा अनुष्ठान कहा जाता है। यह अनुष्ठान पूजा के एक विशेष तरीके, समारोहें के आयोजन अथवा जादू–टोने के रूप में भी हो सकते हैं। सभी धार्मिक विश्वासों का सम्बन्ध किसी न किसी रूप में एक अलौकिक शक्ति से होता है। यही कारण है कि विश्वासों को तर्क और विवेक के आधार पर नहीं समझा जा सकता।

विश्वास किसी समूह की परम्परा और ज्ञान का एक हिस्सा है– इसका तात्पर्य है कि जिस ज्ञान के द्वारा मनुष्य अपनी जिज्ञासाओं के अर्थ को स्पष्ट करता है, उसी के अनुसार धार्मिक विश्वास एक विशेष रूप ले लेते हैं। उदाहरण के लिए, जन्म, मृत्यु, जीवन में आने वाली कठिनाइयाँ, व्यक्तिगत सफलताएँ आदि ऐसे प्रश्न हैं जिनकी कोई वैज्ञानिक व्याख्या नहीं की जा सकती। विभिन्न समूह अपने–अपने ढंग से इन दशाओं की व्याख्या करते हैं। धीरे–धीरे वही लोगों का विश्वास बन जाता है। उदाहरण के लिए, हिन्दू धर्म में 'आत्मा' सम्बन्धी विश्वासों के कारण पुनर्जन्म सम्बन्धी विश्वासों का विकास हुआ तथा इन्हीं विश्वासों के अनुसार विभिन्न संस्कारों और अनुष्ठानों का निर्धारण हुआ। इस्लाम में पुनर्जन्म सम्बन्धी विश्वासों का प्रचलन नहीं है। इसके फलस्वरूप लौकिक सुखवाद को अधिक महत्व मिलने लगा। जनजातीय समाजों के धार्मिक विश्वास कुछ दूसरी तरह के हैं।

विश्वासों की भिन्नता के आधार – समाजशास्त्रियों ने इन आधारों को मुख्य रूप से चार भागों में विभाजित किया है। इन्हें मत, सम्प्रदाय, पंथ तथा संघ कहते हैं।

व्यापक रूप से आज पूरा संसार अनेक धार्मिक मतों अथवा धर्मों में विभाजित है तथा प्रत्येक धर्म की अपनी अलग–अलग विचारधाराएँ और धार्मिक संगठन हैं। संख्या के दृष्टिकोण से संसार में बौद्ध धर्म को मानने वाले व्यक्ति सबसे अधिक हैं, जबकि संगठन के दृष्टिकोण से ईसाई धर्म की कैथॉलिक शाखा को मानने वाले लोगों के सबसे अधिक संगठित कहा जा सकता है। एक ओर यह माना जाता है कि प्रत्येक धर्म का कोई न कोई प्रवर्तक होता है, जबकि दूसरी ओर, बौद्ध, जैन सिक्ख जैसे बाद में विकसित होने वाले धर्मों को छोड़कर हिन्दू, ईसाई और इस्लाम धर्म के मौलिक संस्थापकों की कोई जानकारी नहीं मिलती। हजरत मोहम्मद ने इस्लाम का जो संशोधित रूप सामने रखा, वह प्राचीन अरबी इस्लाम से काफी भिन्न है। प्राचीन अरबी इस्लाम कहाँ और किसके द्वारा विकसित किया गया, इसका कोई इतिहास नहीं मिलता। ईसा मसीह ने भी कैथॉलिक धर्म में एक संशोधनकर्ता की भूमिका निभायी। वैदिक हिन्दू धर्म अथवा स्मृतियों पर आधारित सनातन हिन्दू धर्म के वास्तविक प्रतिपादक का भी कोई नाम नहीं मिलता। इसका तात्पर्य है कि एक विशेष मत अथवा धर्म का विकास कुछ विशेष विचारों और विश्वासों के आधार पर धीरे–धीरे एक लम्बी अवधि में होता है तथा एक मत से सम्बन्धित विभिन्न विश्वास जब समय के अनुरूप नहीं रह जाते, तब कोई व्यक्ति एक पैगम्बर, मसीहा या अवतार के रूप में अपने चमत्कारी कार्यों के द्वारा धर्म को एक नया रूप देने में सफल हो जाता है। यह सच है कि मौलिक रूप से सभी धर्मों की शिक्षाएँ समान नैतिक मूल्यों पर आधारित होती हैं लेकिन विभिन्न विश्वासों, पूजा–उपासना के तरीकों तथा ईश्वर की अवधारणा के बारे में विभिन्न मतों की प्रकृति एक–दूसरे से भिन्न होती है। यही कारण है कि जब किसी समाज में अनेक धर्मों को मानने वाले लोग साथ–साथ रहते हैं तो धार्मिक विश्वासों, पूजा–उपासना की विधियों तथा ईश्वर की की अवधारणा को लेकर उनके व्यवहारों में एक भिन्नता पैदा हो जाती है।

विश्वासों की भिन्नता के दो अन्य आधार सम्प्रदाय तथा पंथ हैं। सम्प्रदाय और पंथ किसी धर्म के अन्दर विकसित होने वाली व शाखाएँ और उप–शाखाएँ होती हैं जो अलग–अलग विश्वासों, मार्गों और उपासना के तरीकों के द्वारा लोगों को ईश्वरीय शक्ति से जोड़ने का काम करती हैं। साधारणतया जब किसी धर्म से सम्बन्धित विचार या सिद्धान्त व्यावहारिक नहीं रह जाते अथवा उन्हें समझना बहुत कठिन हो जाता है, तब एक ही धर्म के अन्दर जिस नयी शाखा का विकास होता है, उसी को सम्प्रदाय कहते हैं। यह सम्प्रदाय एक या अनेक हो सकते हैं। सम्प्रदाय किस प्रकार समाज में विश्वासों की विविधता को बढ़ाते हैं, इसे हिन्दू, ईसाई तथा इस्लाम धर्म के उदाहरण द्वारा समझा जा सकता है। यदि हम वैदिक हिन्दू धर्म को देखें तो स्पष्ट होता है कि यह धर्म निराकार ब्रहम के विश्वास पर आधारित था तथा निराकार ब्रहम के प्रतीक के रूप में अग्नि, जल और वायु की उपासना की जाती थी। इस धर्म के सिद्धान्त कुछ कठिन होने के कारण जब पुराणों में विष्णु, शिव, दुर्गा तथा बहुत से दूसरे देवी–देवताओं की शक्ति का वर्णन किया गया, तब हिन्दू धर्म तीन मुख्य सम्प्रदायों मे विभाजित हो गया। इन्हें हम वैष्णव सम्प्रदाय, शैव सम्प्रदाय तथा शाक्त सम्प्रदाय कहते हैं। वैष्णव सम्प्रदाय के अनुयायी विष्णु को अपना सबसे बड़ा देवता मानते हैं , शैव सम्प्रदाय में शिव की उपासना को महत्व दिया जाता है, जबकि शाक्त सम्प्रदाय को मानने वाले दुर्गा, काली अथवा शक्ति के रूप में देवी के विभिन्न रूपों की उपासना करते हैं। इन सम्प्रदायों की वैचारिकी और विश्वास एक दूसरे से अलग हैं तथा इन्हीं के प्रभाव से निराकार ब्रहम की जगह हिन्दू धर्म में मूर्ति–पूजा आरम्भ हो गयी है। ईसा मसीह से पहले ईसाई धर्म का रूप भी भिन्न था जिसे कैथॉलिक चर्च के रूप में देखा जाता था। ईसा मसीह ने जब प्राचीन ईसाई धर्म में सुधार लाने का प्रयत्न किया, तब एक नये प्रोटेस्टेण्ट सम्प्रदाय का विकास हो गया। फलस्वरूप ईसाई धर्म कैथॉलिक तथा प्रोटेस्टेण्ट जैसे दो मुख्य सम्प्रदायों में विभाजित हो गया।

इसी तरह हतरत मोहम्मद द्वारा जब पुरातन अरबी इस्लाम में सुधार लाया गया, तब इस्लाम को मानने वाले लोग **शिया और सुन्नी** जैसे दो प्रमुख सम्प्रदायों में बँट गये। इस्लाम के परम्परावादी अनुयायी शिया सम्प्रदाय से सम्बन्धित रहे, जबकि सुधार वादी अनुयायियों से सुन्नी सम्प्रदाय का विकास हुआ। स्पष्ट है कि एक ही धर्म से सम्बन्धित वैचारिकी और उपासना के तरीके जब अनेक धार्मिक संगठनों में विभाजित हो जाते हैं, तब इन्हीं संगठनों को हम सम्प्रदाय कहते हैं।

समाज की दूसरी संस्थाओं की तरह धर्म में समय की माँग के अनुसार थोड़ा बहुत परिवर्तन होता रहता है। धार्मिक भाषा में ऐसे परिवर्तन को सुधार का नाम देते हैं। किसी सम्प्रदाय के अन्तर्गत जब कोई नयी सुधारवादी शाखा जन्म लेती है, तब उसी को पंथ के नाम से सम्बोधित करते हैं। उदाहरण के लिए, हिन्दू धर्म के अन्तर्गत वैष्णव सम्प्रदाय से सम्बन्धित लोग यह मानने लगे कि धर्म का तात्पर्य उन जातिगत नियमों के अनुसार व्यवहार करना है जिनका उल्लेख मनुस्मृति में किया गया है। उन्नीसवीं शताब्दी में जब कुछ बड़े–बड़े धर्माचार्यों ने छुआछूत और जातिगत असमानताओं को दूर करने का प्रयत्न किया, तब वैष्णव सम्प्रदाय के अन्तर्गत ही बल्लभ, चैतन्य, निम्बार्क, राधाबल्लभ, हरीदास तथा रामानुज जैसे विभिन्न पंथ विकसित हो गये। इन सभी पंथों ने इस बात पर बल दिया कि कोई व्यक्ति चाहे उच्च जाति का हो अथवा निम्न जाति का, स्त्री हो या पुरूष, ईश्वर की उपासना का सभी को समान अधिकार है। इसी तरह शैव और शाक्त सम्प्रदाय में भी समय–समय पर अनेक सुधारवादी पंथों का विकास हुआ जिन्होंने इन सम्प्रदायों से सम्बन्धित व्यवहार के घृणित तरीकों तथा बलि–प्रथा आदि का विरोध किया। कुछ व्यक्ति इस्लाम के अन्तर्गत शिया और सुन्नी के अतिरिक्त 'सूफी' को भी एक अलग सम्प्रदाय मानते हैं। इस सूफी सम्प्रदाय के अन्दर कबीर ने जिस तरह मुस्लिम अन्धविश्वासों का विरोध किया, उसके कारण एक अलग 'कबीर पंथ' विकसित हो गया। किसी

धर्म और सम्प्रदाय से सम्बन्धित पंथों की संख्या हमेशा बढ़ती रहती है। भारतीय समाज में आज जैसे–जैसे धर्माचार्यों और धर्म–गुरूओं की संख्या बढ़ती जा रही है, उनके अनुयायियों के विश्वासों में भी एक स्पष्ट भिन्नता बढ़ने लगी है।

एक विशेष सम्प्रदाय अथवा पंथ से सम्बन्धित विश्वासों को प्रभावपूर्ण बनाने में विभिन्न धार्मिक संगठनों, मठों, आश्रमों तथा अखाड़ों की विशेष भूमिका होती है। यह धार्मिक संगठन किसी धर्म के संस्थापक द्वारा स्थापित नहीं किये जाते बल्कि इनकी स्थापना और संचालन का कार्य सम्प्रदाय या पंथ के अनुयायियों द्वारा किया जाता है। अखाड़े इस तरह के संगठन होते हैं जो शक्ति के प्रयोग के द्वारा भी एक विशेष पंथ के विश्वासों और व्यवहारों को मानने के लिए लोगों पर दबाव डालते हैं। भारतीय समाज में शैव और शाक्त सम्प्रदाय से सम्बन्धित नागा पंथ के अखाड़े इसका उदाहरण हैं।

भारतीय समाज में धार्मिक विश्वासों की विविधता इसी बात से स्पष्ट हो जाती है कि देश की आबादी की लगभग 82 प्रतिशत जनसंख्या जहाँ हिन्दू धर्म से सम्बन्धित है, वहीं उनके धार्मिक विश्वासों में व्यापक भिन्नताएँ विद्यमान हैं। हिन्दू धर्म का अपना न तो कोई एक धर्मग्रन्थ है और न ही कोई ऐसी केन्द्रीय सत्ता है जो हिन्दुओं को कुछ समान विश्वासों को मानने का निर्देश दे सके। विचारों का खुलापन, विश्वासों का ऐच्छिक चयन, पूजा–उपासना के वैयक्तिक तरीके तथा धार्मिक नियमों का पुनर्परीक्षण हिन्दू धर्म की विशेषताएँ हैं। इसी का परिणाम है कि हिन्दू धर्म के अन्तर्गत जितने अधिक सम्प्रदायों , पंथों, मार्गों और संगठनों का विकास हुआ, वैसा संसार के किसी भी दूसरे धर्म में देखने को नहीं मिलता। इसी के फलस्वरूप महारे समाज में धार्मिक विश्वासों की भिन्नता आज सबसे अधिक देखने को मिलती है।

प्र014. आधुनिक भारतीय समाज में महिलाओं की परिवर्तनशील प्रस्थिति की विवेचना कीजिए?

उत्तर– आधुनिक भारत में स्त्रियों की स्थिति– भारत में स्वतन्त्रता के तुरन्त पश्चात् संविधान और नये सामाजिक अधिनियमों के द्वारा जीवन के सभी क्षेत्रों में स्त्रियों को पुरूषों के समान अधिकार दिय गये लकिन पुरूषों का अहम्वाद आज भी व्यावहारिक रूप में उन्हें व अधिकार देने के पक्ष में नहीं है जिसकी स्त्रियाँ वास्तव में अधिकारी हैं। अधिकांश स्वयं भी जीविका उपार्जन तथा सम्पत्ति के क्षेत्र में मिलने वाले अधिकारों का उपयोग करने के पक्ष में नहीं हैं। इसके बाद भी यह सच है कि नगरों में स्त्रियों ने सामाजिक और आर्थिक दासता के पुराने बन्धनों को तोड़कर महत्वपूर्ण सफलताएँ प्राप्त की हैं। इस दृष्टिकोण से आज स्त्रियों में जो प्रमुख परिवर्तन हुए हैं, उन्हें निम्नांकित रूप से देखा जा सकता है:–

(1) स्त्री–शिक्षा में वृद्धि– उन्नीसवीं तथा बीसवीं शताब्दी क आरम्भ में राजा राममोहन राय तथा आर्य समाज के प्रयत्नों ने जिस स्त्री–शिक्षा को आरम्भ किया गया था, उसमें आज व्यापक प्रगति हुई। भारत में स्वतन्त्रता के समय जहाँ 1,000 स्त्रियों में केवल 54 स्त्रियाँ साक्षर थीं, वहीं आज यह संख्या बढ़कर लगभग 411 हो गयी है। इस समय विभिन्न आयु के समूहों में पाँच करोड़ से भी अधिक लड़कियाँ स्कूलों और कालेजों में शिक्षा प्राप्त कर रही हैं। ब्रिटिश काल तक लड़कियों को शिक्षा देना एक अधार्मिक कार्य के रूप में देखा जाता था, वहीं आज लड़कियों ने विज्ञान, कला और वाणिज्य की शिक्षा के साथ व्यावसायिक और राजनीतिक शिक्षा के क्षेत्र में भी अपनी श्रेष्ठा को प्रमाणित किया है। शिक्षा के प्रसार से स्त्रियों में न केवल एक नयी सामाजिक चेतना विकसित हुई बल्कि उन्होंने उन कुरीतियों से छुटकारा पा लिया जो उन्हों दासता की जंजीरों में जकड़े हुए थी। अपनी शैक्षणिक उपलब्धियों द्वारा स्त्रियों ने यह प्रमाणित कर दिया कि

मानसिक स्तर पर वे किसी भी तरह पुरूषों से निम्न नहीं हैं। इस आधार पर पणिक्कर ने लिखा है, ''स्त्री–शिक्षा ने विद्रोह की उस कुल्हाड़ी की धार तेज कर दी है जिससे

हिन्दू सामाजिक जीवन की जंगली झाड़ियों का साफ करना सम्भव हो गया है।''

(2) आर्थिक क्षेत्र में प्रगति–आज स्त्रियाँ अपनी आर्थिक आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए पूर्णतया पुरूषों पर निर्भर नहीं हैं। शिक्षा की प्रगति तथा बदलती हुई मनोवृत्तियों के प्रभाव से अब सभी क्षेत्रों में काम–काजी महिलाओं की संख्या में तेजी से वृद्धि हो रही है। उच्च स्तर की प्रशासनिक और पुलिस सेवाओं में भी स्त्रियों की संख्या बढ़ती जा रही है। विगत वर्षों में उद्यमिता के क्षेत्र में स्त्रियों का सफलतापूर्वक प्रवेश करना सभी के लिए एक सुखद आश्चर्य है। आज स्त्रियाँ बड़े–बड़े उद्योगों का संचालन कर रही हैं तथा चिकित्सकों एवं सलाहकारी सेवाओं में उनकी संख्या निरन्तर बढ़ती जा रही है। मध्यम और उच्च वर्ग में भी स्त्रियों द्वारा आर्थिक क्रियाएँ करने को अब अनैतिकता के रूप में नहीं देखा जाता। इसके विपरीत, जीविका उपार्जित करने वाली स्त्रियों की सामाजिक स्थिति को ऊँचा समझा जाने लगा है। आर्थिक क्षेत्र में जैसे–जैसे स्त्रियों की पुरूषों पर निर्भरता कम होती जा रही है, परिवार और समाज में भी उनका सम्मान बढ़ता जा रहा है। आर्थिक आत्मनिर्भरता से स्त्रियों का आत्मविश्वास बढ़ा है तथा जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में उनके विचारों को महत्व मिलने लगा है।

(3) राजनीतिक चेतना का विकासः– संसार के अनेक देशों में जहाँ आज भी स्त्रियों को पिछड़ा हुआ मानने के कारण उन्हें वोट देने का अधिकार नहीं है, वहीं भारत में नये संविधान द्वारा सभी वयस्क स्त्रियों को मताधिकार मिलने से उनमें तेजी से राजनीतिक चेतना का विकास होने लगा। **पणिक्कर** का कथन है कि ''जब स्वतन्त्रता ने पहली अंगड़ाई ली,

तब भारत के राजनीतिक जीवन में स्त्रियों को मिलने वाले पद को देखकर बाहरी दुनिया

चौंक पड़ी क्योंकि वह तो हिन्दू स्त्रियों को पिछड़ी हुई, अशिक्षित और प्रतिक्रियावादी सामाजिक व्यवस्था में जकड़ी हुई समझने की अभ्यस्त थी।" आज स्त्रियों में राजनीतिक चेतना के विकास को इसी तथ्य से समझा जा सकता है कि इस समय केवल लोकसभा और राज्यसभा में ही स्त्री सदस्यों की संख्या 50 से अधिक है। विभिन्न राज्यों की विधानसभाओं की संख्या में काफी वृद्धि हुई है।

(4) वैवाहिक और पारिवारिक अधिकारों में वृद्धिः– आज परिवार में स्त्रियों का स्थान एक दासी अथवा अबला की तरह नहीं है बल्कि परिवार के दायित्वों को पूरा करने में स्त्रियों के अधिकारों में निरन्तर वृद्धि हो रही है। शिक्षित स्त्रियाँ अपने पति की सलाहकार, सहयोगी और मित्र हैं। वर्तमान परिवारों में श्रम–विभाजन के एक नये रूप का विकास हुआ जिसमें पुरूष का कार्य साधारणतया आजीविका उपार्जित करना है, जबकि स्त्रियाँ एक अधिकार–सम्पन्न गृहिणी के रूप में परिवार का प्रबन्ध करती हैं। परिवार में काम–काजी महिलाओं की प्रतिष्ठा में विशेष वृद्धि हुई है। एकाकी परिवारों की संख्या में वृद्धि होना भी अप्रत्यक्ष रूप से स्त्रियों के पारिवारिक अधिकारों में वृद्धि होने को प्रमाणित करता है। विवाह के क्षेत्र में भी स्त्रियों को अधिक स्वतन्त्रता प्राप्त हुई है। इसके फलस्वरूप विलम्ब विवाह का प्रचलन बढ़ा है, अन्तर्जातीय विवाहों की संख्या में वृद्धि हो रही है, विधवा पुनर्विवाह को एक अधार्मिक कृत्य के रूप में नहीं देखा जाता तथा शोषण की दशा में स्त्रियों ने विवाह–विच्छेद के अधिकार का उपयोग करना आरम्भ कर दिया है। ग्रामीण समुदाय में भी स्त्रियों की पारिवारिक स्थिति में उल्लेखनीय सुधार हो रहा है।

(5) सामाजिक जागरूकताः– वर्तमान भारतीय समाज में स्त्रियाँ अपने सामाजिक अधिकारों के प्रति कहीं अधिक जागरूक हो गयी हैं। स्त्रियों ने अनेक महिला संगठनों के द्वारा उन कृप्रथाओं और रूढ़ियों को चुनौती देना आरम्भ कर दिया है जिन्होंने उनके जीवन को स्मृतिकालीन व्यवस्थाओं से जकड़ रखा था। आज स्त्रियाँ न तो पर्दे में रहना पसन्द करती हैं और न ही दहेज–प्रथा को धर्म का अंग मानने के लिए तैयार हैं। अनेक जागरूक महिलाएँ उन परिवारों में विवाह करना पसन्द नहीं करतीं जिनमें दहेज की माँग की जाती है। स्त्रियों की सामाजिक जागरूकता के फलस्वरूप ही रूढ़िवादी धर्म तथा व्यर्थ के कर्मकाण्डों का प्रभाव कम होता जा रहा है। स्वयं स्त्रियों के बीच भी उन स्त्रियों को अधिक सम्मान दिया जाता है जो प्रगतिशील विचारों की हों। अनेक रूढ़िवादी व्यक्ति स्त्रियों की बढ़ती हुई जागरूकता तथा स्वतन्त्रता से इतने चिन्तित है कि उन्हें इससे परिवार और समाज टूट जाने का खतरा दिखायी देने लगा है। वास्तविकता यह है कि यह चिन्ता इसलिए उत्पन्न हुई है कि स्त्रियों की सामाजिक जागरूकता के फलस्वरूप पुरूषों के एकाधिकार में कमी होने लगी है।

स्त्रियों की स्थिति में होने वाले अधिकांश परिवर्तन आज भी भारत के नगरीय जीवन से ही सम्बन्धित हैं। गाँवों में भी अब शिक्षा की सुविधाएँ बढ़ने तथा जाति पंचायतों का प्रभाव कम हो जाने के कारण स्त्रियों के विचारों में परिवर्तन होना आरम्भ हो गया है। ग्राम पंचायतों के 33 प्रतिशत स्थान अब स्त्रियों के लिए सुरक्षित हो जाने से इस बात की सम्भावना की जा सकती है कि स्त्रियों में भी ग्रामीण स्तर पर एक स्वस्थ नेतृत्व का विकास होने से उनकी स्थिति में तेजी से परिवर्तन होना आरम्भ हो जायेगा।